समकालीन भारत में दलित चेतना

अनिल कुमार

सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, श्री ठाकुर जी महाराज स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बिल्हौर, कानपुर नगर, उत्तर प्रदेश

सारांश

दलित राजनीति, दलित आन्दोलन का एक राजनैतिक स्वरूप है, इसलिए भारत में दलित राजनीति पर विश्लेषण यहां की सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना के सापेक्ष व्यक्तिगत चेतना से परे सर्वाधिक तर्कसंगत एवं सुव्यवस्थित ज्ञान का प्रस्फुटन किये बिना वस्तुनिष्ठता तक नहीं पहुंच सकते। दलित राजनीति पर अध्ययन कई विधाओं के विद्वान अपने विषय की सीमा में रहकर करते हैं, इस पर तार्किक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए एक विमर्श की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश, भारत का सर्वाधिक मानवसंसाधन, उपजाऊ भूमि वाला राज्य होने के साथ सांस्कृतिक विरासत में अवतारों, धार्मिक आडम्बरों एवं दमन का पिटारा भी है। दलित समाज दमन, शोषण, वंचना एवं तिरस्कार का शिकार होता रहा है, फिर भी विकास, समृद्धि व सशक्तिकरण की अपार सम्भावनायें नहीं हुई हैं। भारतीय समाज में सार्वजनिक क्षेत्र विकसित हो रहा है, इसलिए नागरिकों, जनतांत्रिक इकाईयों एवं पूंजीपतियों को सजग होना ही होगा।

मूल शब्द– *दिमागी गुलामी, सार्वजनिक क्षेत्र, सोशल मीडिया, सबअल्टर्न दृष्टिकोण।*

शोध पत्र का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार हैः

अनिल कुमार

समकालीन भारत में दलित चेतना

शोध मंथन, जून 2018, पेज सं0 92–99

Article No. 14
http://anubooks.com
?page_id=581

प्रस्तावना

दलित आन्दोलन भारतीय समाज में उपनिवेश काल के पूर्व भी चलता रहा है। लेकिन उसके पुखता प्रमाण उपनिवेशकाल के समय से मुखर हये, क्योंकि इससे पहले दलित जातियों में शोषण के खिलाफ संगठित आवाज नहीं उठी थीं। फिर भी हमें निम्न जातियों द्वारा – नियन्त्रणकारी ब्राह्मणवादी विचारधारा के खिलाफ संघर्ष को वृहद् आधार पर देखना होगा, क्योंकि इसकी कहानी जाति व्यवस्था के इतिहास के साथ–साथ चलती है। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में जाति संघर्ष को सामाजिक आर्थिक द्वन्द्व के रूप में अध्ययन करने के लिए इसके विभिन्न आयामों को समझना आवश्यक होगा; क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था मनुवादी सामाजिक व्यवस्था की देन है। उपनिवेशकाल में अंग्रेजों नें इसी व्यवस्था पर प्रहार करते हुए गैर बराबरी वाली भारतीय सामाजिक–आर्थिक संरचना की नींव हिला कर रख दी थी। किन्तु सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक गुलामी की प्रणाली हमें आज भी सामाजिक एकता, समरसता और भाइचारे के रास्ते में एक नकारात्मक पक्ष के रूप में दिखाई पड़ती है, जिसने हमारे समाज को ही नहीं बल्कि देश को भी खोखला कर दिया।

उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के उद्भव के पूर्व दलित शब्द अधिक प्रचलित नहीं था, जैसा कि पिछले तीन दशकों से हुआ है। पूर्व में दलित शब्द के स्थान पर हरिजन एवं अनुसूचित जाति जैसे शब्द ही प्रचलन में थे। दलित शब्द का पहली बार प्रयोग महान दलित संत श्री ज्योतिराव ने द्विज जातियों द्वारा शोषित अछूत जातियों के लिए किया था (ओलिवर, मेण्डेलसॅनः 1998)। महात्मा गांधी ने मनुवादी चालांकी के साथ इन्हें हरिजन (ईश्वर की सन्तान) शब्द से सम्बोधित किया। भारतीय संविधान में अछूत मानी जाने वाली जातियों एवं आदिवासियों के लिए अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जन जाति के रूप में मान्यता दी गयी है, लेकिन दलित चिंतकों व लेखकों के अनुसार इसका अर्थ उपरोक्त से भिन्न है। नॉकडोर (2010) नामक दलित फोरम के अनुसार ''दक्षिण एशिया की जाति व्यवस्था में दलित को अस्पृश्य या अछूत के रूप में जाना जाता रहा है। अछूत से तात्पर्य उस व्यक्ति से लगाया जाता रहा है, जिसे चारों वर्णों से बाहर निम्न प्रस्थिति एवं दूषित या गंदा माना जाता है। दलितों की श्रेणी में चर्मकार, मेहतर, चर्म–उद्योगी, मोची, मृत पशुओं की खाल उतारने वाला, कृषि मजदूर, स्वच्छकार, कसरतबाज, ढोल–वादक, लोक संगीतकार और पटरी शिल्पकार आदि आते हैं। उच्च जातियों की भांति दलित भी भिन्न–2 उप–जातियों अथवा जातियों में बंटे होते हैं''। दलित भूषन गंगाधर पंतावाने ने लिखा है – ''दलित एक जाति नहीं, बल्कि यह एक बदलाव और उद्विकास का एक प्रतीक है। दलित मानवता के प्रति एक विश्वास है। उन्होंने ईश्वर, पुनर्जन्म, आत्मा, शोषण, भेदभाव की शिक्षा देने वाली धार्मिक पुस्तकों, भाग्य और स्वर्ग की बात को खारिज किया है। क्योंकि उनसे हममें हीनता पनपती है।'' दलित और गैर दलित भारतीय लोग दलित शब्द को केवल अनुसूचित जाति से जोड़कर देखते हैं। वर्तमान समय में केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अपनायी जा रही दलित विरोधी प्रक्रिया ने उत्तर भारत की जातियों यथा सवर्ण (विशेषतः ब्राह्मणों) एवं पिछड़ी/दलित जातियों के मध्य राजनीतिक खाई बढ़ती दिखाई पड़ रही है।

प्रस्तुत अध्ययन में दलित एवं पिछड़ी जातियों के सामुदायिक हितों पर हो रही राजनीति

एवं उनकी राजनीतिक चेतना का विश्लेषण विभिन्न समाजशास्त्रीय विचारधाराओं के आधार पर किया गया है।

1. संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण

श्यामाचरण दुबे (1955/2011) का मानना है कि जाति भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विविधता में एकता का कारक है। जिसके लिए वह पारम्परिक हिन्दू सामाजिक संरचना की सात विशेषताओं पर बल देते हैं–1. जन्मना प्रस्थिति में विश्वास, 2. सोपानबद्धता, 3. प्रस्थिति मूल्यांकन का कर्मकाण्डीय मानदण्ड, 4. पुरूषार्थ, 5. आश्रम व्यवस्था, 6. ऋण, एवं 7. कर्म आदि। सुन्दर सारूक्काई (2012) ने कहा है कि अस्पृश्यता के लिए ब्राह्मणवाद का होना एक अनिवार्य आवश्यकता है, जिसमें 'अस्पृश्यता' आयातित नहीं की जाती, अपितु एक प्रतिपूरकता की दार्शनिक चाल है। दार्शनिकता की प्रतिपूरकता की प्रक्रिया ब्राह्मण के लिए सकारात्मक एवं अस्पृश्य के लिए नकारात्मक तथ्य है।

एम. एन. श्रीनिवास (1962) द्वारा सामाजिक परिवर्तन के लिए जातीय गतिशीलता की अवधारणा 'ब्राह्मणीकरण' के स्थान पर 'संस्कृतीकरण' को अधिक उपयुक्त माना है, क्योंकि निम्न जातियाँ ब्राह्मणों के रीति–रिवाज, विचारधारा, विश्वास, जीवनशैली, खान–पान आदि अपना सकती हैं, किन्तु कर्मकाण्डों के क्रियान्वयन पर ब्राह्मणों एकाधिकार कायम रहा है। दूसरी ओर श्यामाचरण दुबे (1955/2011) का मानना है कि आधुनिक युग में जाति के कर्मकाण्डीय आयाम का क्षरण हुआ है, लेकिन वर्तमान सामाजिक दशाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि आज कर्मकाण्डीय आयामों का प्रसार हुआ है, जिसमें सामाजिक सोपानबद्धता कायम रखने से अधिक पूंजीगत लाभ एवं राजनीतिक महात्वाकांक्षा प्रभावी कारक है। स्वामी विवेकानन्द जाति को कायम रखने पर बल देते हैं लेकिन इसमें व्याप्त मानवता विरोधी ब्राह्मणवादी विचारधारा से उत्पन्न श्रेणीबद्धता को चुनौती देते हुए कहते हैं कि ''वे लोग कहां हैं, जिनके परिश्रम के कारण ही ब्राह्मण को प्रभाव, क्षत्रिय को वीरता एवं वैश्य को धन प्राप्त होता है ? उनका इतिहास क्या है, जो समाज का प्रधान अंग होते हुए भी सभी समय सभी देशों में नीच कहलाये जाते हैं ? (विवेकानन्द, 1953/2011). लेकिन जब उत्तर प्रदेश की पूर्व मुख्यमन्त्री सुश्री मायावती जी ने इस परिश्रमी वंचित समाज के इतिहास को संजोने का प्रयास किया तो उन्हें पत्थर की मूर्तियां स्थापित कराने वाली मुख्यमंत्री की संज्ञा प्रदान करने का प्रयास किया गया।

2. संघर्षवादी दृष्टिकोण

सामाजिक प्रस्थिति के सापेक्ष पारम्परिक हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में दलितों को व्यवसायिक प्रकृति के आधार पर अशुद्ध अथवा अछूत माना जाता रहा है। जिनसे दासों की भांति व्यवहार किया जाता था और किसी भी हिन्दू सामाजिक अथवा धार्मिक कर्मकाण्ड से वचित किया जाता था। यह प्रक्रिया कालान्तर में दलितों को शिक्षा, आर्थिक स्वाधीनता और सामाजिक जीवन के मौलिक अधिकारों से वंचित करने एवं उनके शोषण का कारण बनी। यद्यपि भारतीय संविधान में दलितों एवं वचितों के लिए विशेष प्राविधान बनाकर उनके उत्थान का रास्ता दिया गया। यथा– भारतीय संविधान के 73वें संशोधन के पश्चात् पंचायती राज व्यवस्था में हुए मूलभूत परिवर्तन से सत्ता के विकेन्द्रीकरण ने दलितों, महिलाओं एवं पिछड़ी जातियों की राजनीतिक भागीदारी

सुनिश्चित की। जिससे योजनाओं के लाभ के साथ निम्न तबके में विकसित द्वन्द्वात्मक जागरूकता ने जातिगत संघर्ष को जन्म दिया, जो अब प्रकट रूप से सामने आ रहा है।

सुरेन्दर एस. जोधका (2016) जाति को एक प्रदत् ऊंचनीच/पदानुक्रम के रूप में देखते हुए अन्य अवधारणाओं से तुलना करते हैं, जोकि वेबर की शक्ति और असमानता पर आधारित प्रस्थिति की धारणा तथा पिअरे बोर्दियु की प्रतीकात्मक हिंसा की धारणा, जिसमें भेदभाव का शासन होता है। गोपाल गुरू एवं सुन्दर सारूक्काई (2012) का मानना है कि पहचान की राजनीति का उद्भव सामाजिक वास्तविकता के सैद्धान्तीकरण में कमी को गंभीरतापूर्ण तरीके से याद दिलाता है। पहचान की राजनीति सामाजिक विज्ञानों के परिक्षेत्र में दृष्टिपात एवं उग्र रूप प्रवेश कर गयी है। योगेन्द्र सिंह (1999) का मानना है कि दलितों में सामाजिक चेतना के विकास का प्रमुख कारण उनका राजनीति में प्रवेश, संचार माध्यमों से आपसी परिचय का अवसर एवं उच्च–मध्यवर्ती जातियों के प्रति शत्रुतापूर्ण प्रतिस्पर्धा का होना है। एन्द्रे बेत्ते (1996) के अनुसार राजनीतिक संघर्ष जातीय श्रेणियों में देखे जा सकते हैं, बजाय कि विभिन्न वर्गों में। जोएल ली (2018) ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में दलित मुस्लिमों पर किये गये अध्ययन में पाया कि भारतीय समाज में उच्च जातीय मुस्लिम जैसे शेख, सैययद एवं मुस्लिम राजपूत (पठान), सफाई करने वाली जातियों यथा– हिन्दू/मुस्लिम भंगी को अपने घरों एवं मस्जिदों में प्रवेश करने से मना करते हैं। कई परिवारों में खान–पान, भोज एवं अंतिम संस्कार में भी दूरी बनाने का प्रयास करते हैं। उक्त अध्ययनों से ज्ञात होता है, कि भारत में जाति इस गहराई तक पहुंच गयी है कि भारत की बहुलवादी सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारधाराओं में भी जातिवादी नकारात्मकता प्रवेश कर गयी है। यहां तक कि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों पर मस्जिदों एवं कॉलेजों के नाम जाति एवं सम्प्रदाय के आधार पर रखे गये हैं।

भारत में दलितों एवं वंचितों के अधिकारों की मांग एवं हक के दावे पर लगातार क्रिया प्रतिक्रिया होती रही है। सुधा पाई (2013) ने दलित एसर्शन पुस्तक में दलितों के दावे को तीन समकालीन स्वरूपों में विश्लेषण किया है– जमीनी स्तर के दावे, राजनीतिक दल एवं मध्यवर्गीय सक्रियता। वर्तमान समय में दलित सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से अधिक सक्रिय एवं अपने कार्यकलापों में उग्र हो गये है। दलितों एवं वंचित वर्ग के अधिकारों के विरूद्ध लगातार हो रहे दमन यथा रोजगार में आरक्षण को निष्क्रिय करने के प्रयास को उत्तर देने के लिए आजाद भारत के 70 वर्षों के इतिहास में पहली बार दलितों एवं पिछड़ों में राजनीतिक चेतना का जो उद्गार देखा गया, वह पहले मृतप्राय था। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश और भारत की सत्तारूढ़ राजनीतिक पार्टी 'भाजपा' को अपने गोरखपुर (मुख्यमंत्री का संसदीय क्षेत्र) एवं फूलपुर (उप–मुख्यमंत्री का संसदीय क्षेत्र) को उपचुनाव में असफलता का सामना करना पड़ा है। साथ ही दलित एवं पिछड़ों की राजनीतिक जुगलबंदी ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश की कैराना एवं नूरपुर विधान सभा से भाजपा को बाहर का रास्ता दिखा दिया। दलित चिंतक कांचा इलैया (2018) ने विश्वविद्यालयों में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के बढ़ते दलित विरोधी प्रभाव, यूजीसी द्वारा विश्वविद्यालयों को इकाई न मानकर विभागों को इकाई बनाकर दलितों एवं अन्य पिछड़ी जातियों को नीतिनिर्माण एवं उच्च शिक्षा से दूर रखने के आदेशों को जाति व्यवस्था में परिमार्जन को रोकने

वाला मानते है। शोषण एवं दमन तथा सापेक्षिक वंचना का मुखर रूप तब देखा गया है जब 2 अप्रैल 2018 को सोशल मीडिया के माध्यम से आमंत्रित भारत बन्द का व्यापक असर सामने आया। विरोध स्वरूप ब्राह्मण समुदाय ने 10 अप्रैल 2018 को सवर्ण समर्थित भारत बन्द बुलाया, लेकिन पिछड़ी जातियों द्वारा समर्थन प्राप्त न होने से असफल रहा। इस बात में कोई अन्तर्विरोध नहीं है कि भारतीय मीडिया (मुख्यतः इलेक्ट्रॉनिक मीडिया) पूंजीपति घरानों के इशारे पर चलती है तथा मनुवादी विचारधारा को पोषित करते हुए लगातार दलित विरोधी एवं भेदभाव कायम रखने वाली विचारधारा प्रवाहित करती रहती है। लेकिन दलितों एवं पिछड़ों में लगातार बढ़ती नजदीकी, सोशल मीडिया पर बढ़ती सक्रियता एवं भाजपा के घटते जनाधार के कारण न केवल मीडिया का छलावा उजागर हो रहा है, अपितु न्यायपालिका को भी कठघरे में खड़ा किया जा रहा है। फलस्वरूप न्यायपालिका द्वारा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के प्रमोशन में आरक्षण पर लगी रोक को स्थगित करना पड़ा।

3. सबअल्टर्न दृष्टिकोण

अम्बेडकर का मानना है कि ''आप जाति व्यवस्था की नींव पर कुछ भी निर्माण नहीं कर सकते हो। आप राष्ट्र निर्माण नहीं कर सकते; नैतिकता बोध निर्मित नहीं कर सकते। जाति (व्यवस्था) की नींव पर निर्मित कुछ भी विखण्डित हो जायेगा और कभी भी समग्रता नहीं ला पायेगा।'' अम्बेडकर जाति के खात्मे की बात करते थे, जबकि समकालीन दलित राजनीति में सजगता/गतिशीलता की प्रक्रिया में जाति को एक ''साधन'' के रूप में प्रयोग करने में संकोच नहीं किया जा रहा है। दलित जातियों को बहिष्कृत जातियों के रूप में भी जाना जाता है। अमर्त्य सेन (2000) सामाजिक बहिष्करण की ओर ध्यानाकर्षण करते हुए भेदभाव में अन्तर करते हैं– ऐसी स्थितियां जो व्यक्ति को समावेशित होने से दूर रखता हो (अथवा बाहर कर देती हों) तथा समावेशन की परिस्थतियां (जिसमें दबाव के साथ समावेशन शामिल हो) गहन रूप से प्रतिकूल नियम है। समावेशन के दोनो ही प्रकार प्रतिरोधात्मक असर डालते हैं। अमर्त्य सेन एक्टिव बहिष्करण (जिसमें सरकारी एवं गैर सरकारी एजेण्ट के माध्यम से जानबूझकर ऐसी नीतियां का क्रियान्वयन किया जाता है) एवं पैसिव बहिष्करण (जिनका इन क्रियान्वयनों पर भरोसा नहीं होता है, लेकिन समान रूप से नकारात्मक असर डालते हैं) में भेद करते हैं।

दलित समुदाय के साथ अवसरों में भेदभाव करना एक प्रकार का बहिष्करण ही है, एक्टिव बहिष्करण में पता चलता है कि उसके साथ समान या उच्च योग्यता होने के बावजूद अवसर न देकर अन्य समुदाय के व्यक्ति को समान अथवा कम योग्यता के साथ समाहित किया जा रहा है। ऐसे भेदभाव के परिणाम अप्रत्यक्ष रूप से वंचना को प्रेरित करते हैं, जबकि पैसिव बहिष्करण से निराशा एवं निम्न मनोबल के परिणामस्वरूप प्रदर्शन में गिरावट, आय एवं शिक्षा प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न करती है। यही कारण है कि भारत में दोनों तरह के बहिष्करण का दौर चल रहा है। सुरेन्दर एस. जोधका (2006) का मानना है कि 'असमान' प्रकृति की जाति आधारित सामाजिक संरचना की अवस्था में जातियाँ जनतंत्र के विस्तार के लिए स्वतः गतिशील नहीं हो सकती हैं। वह (दलित जातियाँ) तभी एक साथ आ सकती हैं और चुनावी राजनीति को प्रभावित कर सकती हैं जब प्रभुता की पारम्परिक संरचना को पुनर्स्थापित किया जाय। इस प्रक्रिया के लिए

सार्वजनिक क्षेत्र को मजबूत करना होगा, जिसमें लोग सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए विमर्श के द्वारा पब्लिक ओपिनियन बनाने हेतु जुड़ें, जिसमें लोगों को अपने विचार रखने की स्वतंत्रता हो (हैबरमास, 1964)। सार्वजनिक क्षेत्र की अवधारणा का उपयोग अब भारतीय युवाओं ने अपनाना आरम्भ कर दिया है। फलस्वरूप 2 अप्रैल 2018 को अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों के नेतृत्वविहीन भारत बन्द ने प्रभुता की पारम्परिक संरचना एवं सभी राजनैतिक दलों को नये रूप में सोचने पर विवश कर दिया। दूसरी ओर 10 अप्रैल 2018 को भारत बन्द में अन्य पिछड़ी जातियों का साथ न पाकर उच्च जातियों को ऐसी चुनौती प्राप्त हुई है, जिसमें पारम्परिक प्रभुता एवं दमन पर सामाजिक चेतना प्रभावी सिद्ध हुई है। **उत्तर भारत में जातिगत चेतना**

भारतीय समाज के इतिहास में वर्ण व्यवस्था सामान्यतया श्रम विभाजन के रूप में उल्लेखित है। ऋग्वेद में चारों वर्णों का जिक्र केवल एक बार ही मिलता है और छठी ईसा पूर्व शताब्दी में चार वर्णों में स्तरीकरण स्थापित हो गया था। वर्ण एवं जाति के आशय एवं प्रादुर्भाव के विषय में अनेक विचारधाराएं हैं। ''बुग्ले के अनुसार प्राचीन व्यवस्था में वर्ण केवल एक सैद्धान्तिक आधार था; जातियां समाज के विभाजन का यथार्थ थीं'' (मिश्र, रमानाथः 1994)। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था एक कड़वा सच है और इसे नजरन्दाज करके न ही भारतीय समाज को विश्लेषित किया जा सकता है और न ही उन्नति का सफल प्रयास किया जा सकता है। इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक 'भारत में बंधुत्व संगठन (1968) में लिखा है कि ''भारत के सामने आज जो सांस्कृतिक समस्याएं हैं वे तीन तत्वों के इर्द–गिर्द घूमती हैं – भाषा, जाति और परिवार'। सुखदेव थोराट एवं कैथरीन एस. निवमन (2007) का मानना है कि भारत में जातीय, लैंगिक एवं धार्मिक पहचान के आधार पर आरक्षण का मुद्दा अब झगड़ालू बहस के दायरे में आ चुका है। जब इन्हे किसी योजना का लाभ देना हो तो किसी को आपत्ति नहीं होती लेकिन समानता स्थापित करने हेतु नौकरियों में आरक्षण देने के नाम पर विरोध के स्वर सीधे तौर पर प्रकट होने लगे हैं। इससे सिद्ध होता है कि उच्च जातियां (विशेषतः मनुवादी) ऐतिहासिक एवं सामाजिक रूप से वंचित समाज को कल्याण्कारी योजनाओं के नाम पर भिक्षुक बनाये रखना चाहती हैं, न कि उनके समग्र विकास के लिए समान अधिकार देने के लिए सहमति। सुखदेव थोराट एवं जोएल ली (2005) अपने लेख में दर्शाते हैं कि किस प्रकार मिड डे मील के लिए दलित कुक का विरोध किया जाता है। लेकिन एक तथ्य विचार करने योग्य है कि यही जातियाँ, दलित लड़की को देवदासी बनाने, जबरन/बहलाकर यौन सम्बन्ध बनाने से अपवित्र नहीं होती हैं। एक प्रचलन देखने को मिलता है कि दलित लड़का या लड़की यदि उच्च अधिकारी, वैज्ञानिक या प्रोफेसर हो जाय तो उससे विवाह करने में धर्म को कोई खतरा पैदा नहीं होता है, अपितु वह दलित एवं वंचित समाज के इन पढ़े–लिखे लोगों को अपनी मूलजाति से समाज से अलग कर वैचारिक रूप से अलग कर देते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि केवल समता, समानता एवं सरकारी नौकरियों में हिस्सेदारी देने में विवाद क्यों?

भारतीय समाज में जाति अथवा अन्य आधारों पर भेदभाव युक्त मौजूद सामाजिक संरचना के पुनरावलोकन की आवश्यकता हैं। क्योंकि समाज में अब युवा प्रश्न करने लगे हैं कि जब जाति के आधार पर भेदभाव एवं शोषण किया जा सकता है, एक जाति विशेष के व्यक्ति को मन्दिर में

पुजारी नियुक्त किया जा सकता है, सेना में पुजारी पद (अधिकारी रैंक) पर ब्राह्मण की ही नियुक्ति हो सकती है। लेकिन दलित एवं पिछड़ी जातियों को उनके संवैधानिक अधिकार क्यों नहीं दे सकते हैं।

4. निष्कर्ष

आज भारतीय समाज में 'जातीय आधार पर भेदभाव से जो राजनीतिक ध्रुवीकरण हुआ है, वह 1980 के पश्चात जाति आधारित क्षेत्रीय पार्टियों के प्रादुर्भाव, शिक्षा में बढ़ती हिस्सेदारी का परिणाम है। ग्रामीण समाज में जातीय संघर्ष एवं जातीय समूहों के बीच की दूरियां अब नगरीय औद्योगिक समाज में भी स्पष्ट होने लगी हैं। इस बात को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है कि सभी राज्यों में दलित जातियों की प्रस्थिति अथवा दलितों की संख्या एक समान नहीं है। यह भी हो सकता है कि जो जाति किसी एक राज्य में दलित हो तो दूसरे में पिछड़ी अथवा किसी अन्य राज्य में उसकी मौजूदगी न हो।

आज दलित एवं पिछड़े वर्ग के सजग युवाओं में चेतना आ रही है, लेकिन सदियों से दमित समाज में नासमझ एवं दिग्भ्रमित युवाओं की संख्या कम नहीं है। इसलिए आवश्यकता है कि संविधान में वर्णित समता, समानता एवं बंधुत्व की अवधारणा को पुनर्स्थापित किया जाय। जनतंत्र के अभिन्न अंग न्यायपालिका एवं पत्रकारिता तटस्थ, समतामूलक एवं मानवतावादी प्रतिमान स्थापित करने में मदद करे, तभी भारतीय सामाजिक संरचना विखण्डित होने से बच सकती है।

सन्दर्भ

1. अम्बेडकर, भीमराव (2002) कॉस्ट इन इण्डिया, इन घनश्याम शाह (संपादित) *कॉस्ट एण्ड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, दिल्ली, परमानेन्ट ब्लैक।
2. ओलिवर, मेण्डेलसॅन (1998) *द अनटॅचेबल्सः सबोर्डिनेशन, पॉवर्टी एण्ड द स्टेट इन इडिया*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, **पृष्ठ–4**।
3. इलैया, कांचा (2018) बी. जे. पी. सपोर्टस कास्ट सिस्टम, *द वीक*, 36(5) अप्रैल।
4. कर्वे, इरावती (1968) *भारत में बंधुत्व संगठन*, चंडीगढ़, हरियाणा, साहित्य अकादमी।
5. जोधका, सुरेन्दर एस. (2006) कॉस्ट एण्ड डेमोक्रेसीः एसर्शन एण्ड आइडेंटिटी अमंग द दलित्स ऑफ रूरल पंजाब, *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*, 55(1), **पृष्ठ 4–23।**
6. जोधका, सुरेन्दर एस. (2016) एस्क्रिप्टिव हायरारकीजः कॉस्ट एण्ड इट्स रिप्रोडक्शन इन कन्टेम्पॅररी इण्डिया, *करेंट सोशियोलॉजी मोनाग्राफ*, 64(2), **पृष्ठ 228–243**।
7. दुबे, श्यामाचरण (1955/2011) *भारतीय समाज* (अनुवादक–वंदना मिश्र), नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली।
8. पाई, सुधा (2013) *दलित एसर्शन*, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. बेत्ते, एन्द्रे (1996) *कास्ट, क्लॉस एण्ड पावरः चेन्जिंग पैटर्नस् ऑफ स्ट्रेटीफिकेशन इन अ तन्जोर विलेज*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
10. मिश्र, रमानाथ (1994) *प्राचीन भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म (वैदिक काल से 300 ई0 तक)*, भोपाल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी. **पृष्ठ–85**।
11. थोरात, सुखदेव एवं निवमन, कैथरीन एस. (2007) जाति एवं आर्थिक भेदभावः कारण, परिणाम एवं निदान, *इकनॉमिक एण्ड पोलिटकल वीकली*, 42(41), **पृष्ठ 4121–4124।**

12. थोरात, सुखदेव एवं ली, जोएल (2005) जातीय भेदभाव एवं खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम, *इकनॉमिक एण्ड पोलिटकल वीकली*, 40(39), **पृष्ठ 4198–4201।**
13. नॉकडोर (2010) *द मीनिंग ऑफ़ दलित*, नॉकडोर की वेबसाइट से लिया गया।
14. श्रीनिवास, एम. एन. (1962) *संस्कृतीकरण एवं पश्चिमीकरण पर एक नोट, आधुनिक भारत में जाति एवं अन्य निबन्ध*, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, लन्दन।
15. ली, जोएल (2018) हू इज ट्रयू हलालखोर? जिनिआलॉजी एण्ड एथिक्स इन दलित मुस्लिम ओरल ट्रेडिशनस्, *कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन सोशियोलॉजी*, 52(1), **पृष्ठ 1–12।**
16. विवेकानन्द, स्वामी (1953/2011) *जाति, संस्कृति और समाजवाद*, रामकृष्ण मठ, नागपुर।
17. सारूक्काई, सुन्दर (2012) अस्पृश्यता का प्रघटनाशास्त्र, *द क्रेक्ड मिररः एन इण्डियन डिबेड ऑन इक्सपीरिएंस एण्ड थ्योरी* (सुन्दर सारूक्काई, एवं गोपाल गुरू), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली।
18. सिंह, योगेन्द्र (1999) *भारत में सामाजिक परिवर्तनः संकट एवं समुत्थानपरकता*, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
19. सेन, अमर्त्य (2000) सामाजिक बहिष्करणः अवधारणा, क्रियान्वयन एवं पुनरीक्षण, कार्यकारी पत्र, सामाजिक विकास पत्र संख्या –1, *एशियाई विकास बैंक*, बैंकॉक।
20. हैबरमास, जे0 (1964) द पब्लिक स्फेअरः एन इनसाइक्लोपीडिया आर्टिकिल, *न्यू जर्मन क्रिटीक*, नं0 3।